



विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/निःशुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोधपीठ

बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujain@gmail.com

vikramadityashodhpeth@gmail.com

Web : www.mvspujain.com

भारत का सांस्कृतिक इतिहास और पर्यटक

यतींद्र तिवारी

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

भारत का सांस्कृतिक
इतिहास और पर्यटक
यतींद्र तिवारी

पृष्ठ क्र. 3-4

प्राचीन नगरों में उज्जयिनी-
पाटलिपुत्र का विशेष
स्थान
डॉ. किरण शर्मा

पृष्ठ क्र. 5-6

भारत को आत्मसात करने
वाले विदेशी शासक
रविंद्र कुमार चतुर्वेदी

पृष्ठ क्र. 7

संस्कृतियों के समन्वय का
प्रतीक: शिव
चंद्रशेखर शर्मा

पृष्ठ क्र. 8

भारतीय दर्शन का व्यापक
एवं गहन अध्ययन
मिथिलेश यादव

प्राचीन काल में जिन अनेक यूनानी पर्यटकों ने भारत भूमि का भ्रमण किया, उनमें से स्काइलैक्स का नाम अग्रणी है। यह यूनानी फारस के शासक दारा प्रथम का सैनिक था। दारा ने उसे प्रागैतिहासिक सिन्धु घाटी के संबंध में पता लगाने के लिए भारत भेजा था। उसके परवर्ती लेखक उसकी खोजों के जो तथ्य सुरक्षित रख पाये हैं, उनसे सिन्धु घाटी के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। उसके विवरणों के आधार पर दूसरे यूनानी लेखक हिकेटिअस मिलेटस (549-496 ई.पू.) ने सिन्धु घाटी की, कुछ भौगोलिक स्थितियों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। किन्तु इन यूनानियों की खोजों के जो उद्धरण अन्य ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं, उनसे स्पष्टतः पता चलता है कि वे भारत के प्राचीन इतिहास की कोई विशेष जानकारी देने में अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। प्राचीन भारत के सम्बन्ध में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण नई जानकारी देने का श्रेय तीसरे यूनानी इतिहासकार हेरोदोटस (484-425 ई.पू.) को है। उसने उत्तर-पश्चिम स्थित सीमाप्रान्त (भारत) और हरबमी (ईरान) के साम्राज्यों से राजनीतिक सम्पर्क स्थापित कर वहाँ की जातियों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये। किन्तु उसके ये ऐतिहासिक वृत्त उसके द्वारा प्रत्यक्षानुभूत न होकर इतरेतर साधनों पर अवलम्बित हैं, जिससे उनकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। इस सन्दर्भ में यूनान के प्राचीन इतिहासकार केसिअस (416-398 ई.पू.) का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि उसने प्राचीन भारत के सम्बन्ध में अधिकाधिक और प्रामाणिक सूचनाएँ देने का यथासाध्य प्रयत्न किया है। वे फारस के राजा अर्टाजे रेक्सस मेमन की राजसभा के राजवैद्य थे। इस इतिहास-बुद्धि व्यक्ति ने फारस आये भारतीयों और भारत से लौटे फारसी व्यापारियों से सम्पर्क स्थापित कर उनसे भारत के विषय में बहुविध जानकारी प्राप्त की थी। भारत-सम्बन्धी जिन तथ्यों को पुस्तकाकार रूप में उसने एकत्र किया उसका नाम 'इण्डिका' रखा। यद्यपि उसके विवरण परानुभव-जन्य थे और इसलिए उनकी सत्यता सर्वथा असन्दिग्ध नहीं थी, तथापि भारत के इतिहास को पुस्तकबद्ध करने वाले विदेशियों में उसका स्थान अविस्मरणीय है। प्राचीन भारत पर अपेक्षया विस्तृत जानकारी देने वाली उसकी उक्त पुस्तक सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, किन्तु अन्य पुस्तकों में उसके उद्धरण मात्र देखने को मिलते हैं। उसने ईरान पर भी एक इतिहास-ग्रन्थ पर्शिका के नाम से लिखा था।

प्राचीन भारत की प्रामाणिक तथा विस्तृत इतिहास-सामग्री के स्रोत उन इतिहासकार विद्वानों के उपलब्ध वृत्तान्त हैं, जिन्हें महान् विजेता सिकन्दर (400 ई.पू.) अपने साथ भारत लाया था। जिन मार्गों से होकर सिकन्दर ने भारत में प्रवेश किया और जिस कौशल तथा पराक्रम से उसने अपने आक्रमणों को सफल बनाया उसका सविस्तार वर्णन उसके सैनिक पदों पर नियुक्त कुछ विद्वान व्यक्तियों ने किया। यदि उन्होंने अपने प्रत्यक्ष दृष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध न किया होता तो सिकन्दर के भारत-आक्रमण की जानकारी देने के लिए अन्य कोई साधन नहीं थे। यद्यपि पूर्ववर्ती इतिहासकारों की मूल कृतियों की भाँति सिकन्दर के इन सहयोगी लेखकों के क्रमबद्ध वृत्तान्त विलुप्त हो गये, किन्तु परवर्ती इतिहासकारों स्ट्रैबो, प्लिनी, एरियन और प्लूतार्च के ग्रन्थों में उनके उद्धरण आज भी सुरक्षित हैं। सिकन्दर के साथ आये इन तीन लेखकों के नाम थे निआकस, एरिस्टीव्यूलस और ओनेसिक्रिटस। निआकस के भारत-विषयक वृत्तान्तों के उद्धरण स्ट्रैबो और एरियन के ग्रन्थों में उद्धृत हैं। सिकन्दर के जहाजी बेड़े का वह एडमिरल था। एरिस्टीव्यूलस ने सिकन्दर के युद्धों पर एक पुस्तक लिखी थी, एरियन और प्लूतार्च ने उसके बहुत-से विवरणों को सुरक्षित रखा है। इसी प्रकार जहाजी बेड़े के पाइलट ओनेसिक्रिटस ने अपने अनुभवों पर सिकन्दर की जीवनी लिखी थी। उसके वृत्तान्तों में यद्यपि अतिरंजना, एकांगिता तथा

सुनी-सुनायी बातों की अधिकता है, फिर भी उनका अपना महत्व है। सिकन्दर के बाद भारत आने वाले विद्वान् इतिहासकारों एवं खोजियों में मेगास्थनीज का नाम प्रमुख है। वह प्रसिद्ध यूनानी सीरिया के सम्राट् सेल्यूकस का राजदूत था और मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय (321-297 ई.पू.) आया था। भारत के अनेक स्थलों का भ्रमण और वहाँ की परम्पराओं का अध्ययन कर उसने भारत के तत्कालीन जन-जीवन तथा उसकी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक विरासत पर इण्डिका नाम से एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी, जो कि सम्प्रति मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसके लम्बे अवतरण एरियन, स्ट्रैबो तथा जस्टिन आदि इतिहासकारों की पुस्तकों में सुरक्षित है।

डॉ. स्वानवेक ने उस पुस्तक के विभिन्न बिखरे हुए विवरणों को एकत्र कर उन्हें 1846 ई. में प्रकाशित किया। इस संग्रह का मैक किण्डल ने 1891 ई. में अंग्रेजी अनुवाद किया। इस अनुवाद के माध्यम से मेगास्थनीज की पुस्तक के महत्व का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। भारत के सम्बन्ध में प्राचीन ऐतिहासिक जानकारी देने वाले

यूनानी विद्वानों में पैट्रोक्लीज (281-261 ई.पू.) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यूनानी सम्राट् सेल्यूकस और एण्टीआकस प्रथम के समय यह किसी पूर्वी प्रान्त का पदाधिकारी था। अपने पूर्वी देशों के इतिहास में उसने भारत पर प्रकाश डाला है। उसके परवती इतिहासज्ञ एवं भूगोलवेत्ता विद्वान् एरेस्थोनीज (276-194 ई.पू.) और स्ट्रैबो ने पैट्रोक्लीज के विवरणों की बड़ी प्रशंसा की है। मेगास्थनीज के बाद, मौर्य चन्द्रगुप्त के पुत्र मौर्य बिन्दुसार (297-272 ई.पू.) के शासनकाल में यूनानी सम्राट् द्वारा प्रेषित राजदूत डोमेकस और उसके बाद डायोनीसिअस भारत आया। उन्होंने भी भारत-विषयक अपने अनुभवों को लेखबद्ध किया, जो कि मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु स्ट्रैबो ने उनके कुछ उद्धरण उद्धृत किये हैं।

स्ट्रैबो ने उक्त तीनों यूनानी विद्वान् राजदूतों के भारत विषयक विवरणों की आलोचना की है और उनकी प्रामाणिकता पर अविश्वास करते हुए उन्हें भ्रान्त तथा अविश्वसनीय कहा है। यद्यपि मेगास्थनीज के भारत विषयक कुछ अनुमान नितान्त असत्य तथा कल्पित हैं, फिर भी तत्कालीन जन-जीवन के रहन-सहन, रीति-रिवाज और धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि उदात्त परम्पराओं का जिस निष्पक्षता से उसने उल्लेख किया है, उसका अपना विशेष महत्व है और भारत के प्राचीन इतिहास की जानकारी के लिए वे एकमात्र साधन हैं। भारत



और यूनान के इन निरन्तर बढ़ते हुए घनिष्ठ सम्बन्धों का अनेक दृष्टियों से बड़ा महत्व है। दोनों देशों के इन प्राचीन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप न केवल इतिहास तथा संस्कृति के क्षेत्र में, अपितु कला के क्षेत्र में भी सामंजस्य स्थापित हुआ। अपने पूर्ववर्ती विद्वानों के उल्लेखों से प्रभावित होकर ईसा की प्रथम शती में प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् स्ट्रैबो ने विभिन्न देशों का भ्रमण कर वहाँ की भौगोलिक स्थितियों पर सर्वप्रथम महत्वपूर्ण प्रकाश डाला। मूलतः भौगोलिक स्थितियों का चित्रण करने के साथ-साथ स्ट्रैबो ने तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक विषयों पर भी प्रकाश डाला। स्ट्रैबो की इस पुस्तक में भारत के प्राचीन इतिहास की महत्वपूर्ण मौलिक खोजें विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। उसके बाद प्रसिद्ध इतिहासकार और भूगोलवेत्ता विद्वान् प्लिनी ने विश्व के प्राकृतिक इतिहास पर एक विशाल ग्रन्थ की रचना की। उसने 37 अध्याय है। उसका छठा अध्याय भारत पर है। यद्यपि प्लिनी ने अपने अभिमतों तथा निष्कर्षों के लिए मेगास्थनीज के वृत्तान्तों को प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है। फिर भी उसने भारत-विषयक अनेक अप्रकाशित एवं अज्ञात तथ्यों को पहली बार प्रकाश में लाने की चेष्टा की है। उसकी नेचुरल हिस्ट्री नामक यह वृहत् कृति 77 ई. में प्रकाशित हुई। प्लिनी की कुछ भारत-सम्बन्धी स्थापनाएँ अत्यन्त भ्रान्त सिद्ध हुई हैं। प्लिनी के लगभग सौ वर्ष बाद प्रसिद्ध इतिहासकार एरियन ने सिकन्दर के आक्रमणों पर एक प्रामाणिक पुस्तक लिखी। इसके अतिरिक्त उसने इण्डिका नामक अपनी पुस्तक में अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों के विवरणों एवं निष्कर्षों को संकलित करते हुए भारत के राजनीतिक, धार्मिक तथा आर्थिक विषयों पर भी प्रकाश डाला।

दूसरी शती ई. में वर्तमान इस यूनानी विद्वान् एरियन ने भारत के इतिहास और भारत के पशुओं पर दो विभिन्न पुस्तकें लिखीं। इसके अतिरिक्त ईजिस्ट के मठाधीश कसनस इण्डिकोप्लुटर्स द्वारा लिखित दि क्रिश्चियन टोपोग्राफी ऑफ दि यूनिवर्स भी भारतीय इतिहासकारों के लिए उपयोगी पुस्तक है। इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक यूनानी इतिहासकारों, भूगोलवेत्ताओं ने अपने विवरणों में प्राचीन भारत की जानकारी प्रस्तुत की है। किन्तु उनमें अधिकतर नाममात्र ही उपलब्ध होता है। भारत के प्राचीन इतिहास और भूगोल की जानकारी देने वाले विद्वानों में यूनानवासियों के बाद चीनी इतिहासकारों का नाम मुख्य है। बौद्धधर्म का उद्गम स्थल भारत उनकी प्रेरणा का मुख्य केन्द्र रहा है। इतिहास के उन प्रचुर तथ्यों को विस्मृत नहीं किया जा सकता है, जो भारत और चीन की मूलभूत एकता के साक्ष्य हैं।

प्राच्य नगरों में उज्जयिनी-पाटलिपुत्र का विशेष स्थान

डॉ. किरण शर्मा

प्राचीन भारत के महत्वपूर्ण नगरों में उज्जयिनी एवं पाटलिपुत्र का विशेष स्थान है, क्योंकि ये महती ऐतिहासिक घटनाओं के केन्द्र रहे हैं जिनसे समग्र एशिया का भी इतिहास प्रभावित हुआ है। साहित्यिक एवं पुरातात्विक साधनों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी नगर पाटलिपुत्र से प्राचीनतम है पर मगध के हर्यकों ने अवन्ति के प्रद्योतों के साथ सम्पर्कों की जो श्रृंखला आरम्भ की वह भविष्य में सदियों तक चलती रही, क्योंकि नन्दों, मौर्यों,

शुंगों एवं गुप्तों की सत्ता मगध की राजधानी पाटलिपुत्र एवं अवन्ति की राजनगरी उज्जयिनी में स्थापित थी। प्रश्न उठता है कि इन सम्पर्कों की पृष्ठभूमि कैसी थी एवं किन कारणों से इन दोनों नगरी में सम्पर्क बना रहा? अध्ययन से इसके मुख्यतः राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं विद्या विषयक कारण प्रतीत होते हैं। मगध के राजाओं की उदयमती प्रचण्ड सैन्यशक्ति ने भारत को राजनीतिक एकता प्रदान की एवं बंग से गांधार एवं कम से कम सिंधु घाटी तक के क्षेत्र को एक छत्र के नीचे रखा फलतः एक ही शासन व्यवस्था में रहने के कारण इन दोनों नगरों में सम्पर्क होना स्वाभाविक था। इन सम्पर्कों की स्थापना में व्यापार का भी योगदान था।

बंग का ताम्रलिप्ति से जो महापथ पश्चिम में भरुकच्छ की ओर जाता था उसी पर पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी की स्थिति थी, फलतः एक स्थान के व्यापारी दूसरे स्थान पर जाते थे। उज्जयिनी एवं पाटलिपुत्र नगर दोनों ही बौद्ध एवं जैन धर्मों के महान केन्द्र थे, फलतः इस कारण भी दोनों में सम्पर्क बना रहा। दोनों नगद विद्या के केन्द्र थे एवं इन दोनों जगहों पर विद्वानों की परीक्षा हुआ करती थी। इन नगरों में गणित एवं ज्योतिष के महान् आचार्यों का आविर्भाव हुआ था, जिन्होंने एक दूसरे को प्रभावित किया। जातकों से ज्ञात होता है कि मगध के सम्राट् बिम्बसार एवं अवन्तिराज चंड प्रद्योत में मैत्रीपूर्ण संबंध थे, पर मगधराज अजातशत्रु से उसके सम्पर्क भयपूर्ण थे, इसलिये उसने उसके आक्रमण के भय से राजगृह के प्राचीरों का नवीनीकरण करवाया था। अजातशत्रु के पुत्र ने पाटलिपुत्र की स्थापना की थी एवं अपनी राजधानी भी उसने वहीं स्थानान्तरित कर दी। स्थविरावली से ज्ञात होता है कि अवन्तिराज में वैमनस्य था। पाटलिपुत्र के उस राजा ने किसी पड़ोसी राजा



को पराजित किया था, जिसके राजकुमार ने अवन्तिराज की शरण ली थी एवं उसी के परामर्श से भिक्षुओं में उसने हत्या कर दी। इस घटना की ऐतिहासिकता संदेहास्पद हो सकती है, पर इतना सत्य अवश्य है कि पाँचवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी के राजनीतिक सम्पर्क तनावपूर्ण थे। इसका कारण था मगध सम्राज्य की बढ़ती हुई शक्ति, जिससे अवन्ति के राजा द्वंद्व करते थे। उदायिन के उपरान्त पाटलिपुत्र में जो भी

शासक हुए उनका शासनकाल अल्पकालीन था, फलतः यह ज्ञात नहीं होता कि उज्जयिनी के साथ उसके कैसे सम्पर्क थे। महावंश से ज्ञात होता है कि हर्यक कुल के राजाओं में अजातशत्रु से चलकर नागदशक तक सभी राजे पितृहन्ता थे, इसलिए जनता ने काशी के राज्यपाल शिशुनाग को पाटलिपुत्र का राजा बनाया। शिशुनाग ने राजगृह को मुक्त करने के लिये प्रद्योतों से घमासान युद्ध किया एवं उनकी प्रतिष्ठा खाक में मिला दी। शिशुनाग से पराजित होने वाला उज्जयिनी

का प्रद्योत-राजा संभवतः अवन्तिवर्द्धन था जो चण्ड प्रद्योत का पौत्र एवं पालक का पुत्र था। पर, यह ज्ञात नहीं होता कि अन्य शिशुनागों एवं प्रद्योतों में सम्पर्क कैसे थे। शिशुनाग वंश के अंतिम राजा की हत्या कर महापदमनन्द ने पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया एवं नन्दवंश की स्थापना की। द्वितीय परशुराम के समान उसने भी क्षत्रियों का भयंकर संहार किया एवं मगध की राज्य सीमा उसने पश्चिमोत्तर में व्यास नदी तक, पश्चिम में सौराष्ट्र तक एवं दक्षिण में विदर्भ तक विस्तृत कर दी। अवन्ति एवं पार्श्ववर्ती क्षेत्रों पर शासन करने वाले हैहय एवं वीतिहोत्र क्षत्रियों का भी उसने उन्मूलन किया था। चौथी सदी ई.पू. के अंतिम चरण में चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दों की सत्ता समाप्त कर मौर्यवंश की नींव डाली। उसने उज्जयिनी को नन्दों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त किया था।

जैन साक्ष्यों से विदित होता है कि उसका राजभवन भी उज्जयिनी में था, क्योंकि वहाँ उसकी प्रांतीय राजधानी थी। समय-समय पर वह उज्जयिनी में भी निवास करता था एवं राज्य के पश्चिमी क्षेत्रों पर नियंत्रण वहाँ से रखता था। कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र में उज्जयिनी का उल्लेख दो बार किया है। बिन्दुसार के शासनकाल में भी उज्जयिनी अवन्ति राष्ट्र की राजधानी थी एवं उसका महत्व इस बात से विदित किया जा



सकता है कि पाटलीपुत्र से वहाँ राजप्रतिनिधि के रूप में किसी राजकुमार को ही भेजा जाता था। महावंश से ज्ञात होता है कि राजप्रतिनिधि के रूप में पाटलिपुत्र से उज्जयिनी जाते हुए विदिशा में अशोक का प्रणय—व्यापार एक शाक्य व्यापारी की पुत्री से चला एवं उसके साथ उनके विवाह भी कर लिया, जिससे महेन्द्र एवं संघमित्रा उत्पन्न हुए। बिन्दुसार की रुग्णावस्था का समाचार पाकर उसने उज्जयिनी से ही प्रस्थान कर पाटलिपुत्र में सत्ता हस्तगत कर ली थी। इन बातों से विदित होता है कि पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी एक दूसरे से सम्प्रक्त थे। अशोक का घनिष्ठ सम्पर्क उज्जयिनी से था, क्योंकि वह वहाँ का राज्यपाल रह चुका था एवं वहाँ की स्थिति से अधिक परिचित था। राजा होने पर उसने अन्य क्षेत्रों के समान अवन्ति क्षेत्र के विकास की ओर ध्यान दिया एवं जनकल्याण के काम किये। उसने उज्जयिनी पर विशेष ध्यान रखा। अपने राज्याधिकारियों को उसने आदेश दिया था कि वे अपने अपने क्षेत्रों में अनुसंधान या भ्रमण के लिये प्रति पाँचवें वर्ष जायें, पर उज्जयिनी के राज्यपाल को आदेश था कि वह अनुसंधान प्रति तीसरे वर्ष कराये। इस विशेष ध्यान एवं अनुग्रह की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसका कारण वहाँ की घनी आबादी थी पर यह युक्तिसंगत नहीं लगता। संभवतः इसका कारण था अवन्ति के लोगों की स्वातंत्र्य, प्रियता, अतः उनके असंतोष को दूर करने एवं उनके कष्टों को मिटाने के लिए उसने अनुसंधान की अवधि को तीन वर्ष के अन्तराल से रखा।

अशोक के शासनकाल में सम्प्रति उज्जयिनी का राज्यपाल था। उसकी मृत्यु के उपरान्त मौर्य साम्राज्य के विघटन की स्थिति में सम्प्रति ने उज्जयिनी पर अधिकार जमाये रखा एवं अवन्ति क्षेत्र में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली थी। यही कारण है कि उसके जैन होने के कारण जैन ग्रंथों में उसको उज्जयिनी का राजा कहा गया है। पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी में जो सम्पर्क मौर्यकाल में था वह शुंगकाल में नहीं रह सका। उज्जयिनी की अपेक्षा शुंगों ने विदिशा को अधिक महत्व दिया, क्योंकि वहाँ से विदर्भ, अवन्ति, वत्स, कोशल एवं अन्य क्षेत्रों पर आसानी से नियंत्रण रखा जा सकता था।

पाटलिपुत्र के सम्राट् पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को वैदिशस्य कहा गया है, क्योंकि वह विदिशा में राज्यपाल था। पुष्यमित्र के पुरोहित पंतजलि ने जहाँ इस बात का उल्लेख किया है कि पाटलिपुत्र की स्थिति सोन नदी के तट पर थी, वहीं उन्होंने उज्जयिनी से माहीष्मती की दूरी का भी विवरण दिया है, इससे ज्ञात होता है कि वे पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी दोनों को देख चुके थे। शुंग काल में व्यापारी विदिशा होते हुए उज्जयिनी एवं आगे तक जाते थे, जिनमें कीकट याने मगध के भी व्यापारी थे, जिनमें से कई एक ने साँची स्तूप के निर्माण में भी योगदान दिया था। ये लोग पाटलिपुत्र के रहे होंगे, क्योंकि उस काल में मगध में यही नगर व्यापारियों का मुख्य केन्द्र था। शुंगों के पतन एवं गुप्तों के उदय का मध्यकाल राजनीतिक दृष्टि से उत्तर भारत के लिए अस्थिरता के युग में किसी एक का भी नियंत्रण पाटलिपुत्र एवं उज्जयिनी इन दोनों नगर पर

नहीं रह सका। संभव है इन दोनों नगरों में व्यापारिक सम्पर्क रहे हों एवं धार्मिक भी। समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि जहाँ उसने पाटलिपुत्र के कोढकुलोत्पन्न राजा को पराजित कर वहाँ उत्सव मनाया वहीं अपनी प्रचण्ड सैन्य शक्ति का बिना प्रयोग किये शकों को भी राजाज्ञा का पालन करने, कर एवं कन्या प्रदान करने एवं राजसभा में आकर प्रणाम करने यथा शासन—पालन करने पर बाध्य कर दिया। उन दिनों शकों की सत्ता अवन्ति क्षेत्र में भी स्थापित थी एवं उनकी राजधानी उज्जयिनी में थी। इतिहासकारों का विचार है कि शकराज एद्रसेन तृतीय ने ईरान के शासक शापुर द्वितीय से पीड़ित होकर समुद्रगुप्त की सार्वभौमिकता स्वीकार की। यह भी साधारणतः माना जाता है कि गुप्तों की आरम्भिक राजधानी पाटलिपुत्र में थी अतः उसका राजनीतिक प्रभुत्व उज्जयिनी पर पुनः समुद्रगुप्त के शासनकाल में स्थापित हुआ फलतः दोनों में सम्पर्क बढ़ गये। समुद्रगुप्त की मृत्यु के उपरान्त शकराज उज्जयिनी के अधिपति संभवतः रुद्रसेन तृतीय ने रामगुप्त पर आक्रमण किया होगा। तत्पश्चात् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मालवा पर भी आक्रमण किया एवं शकों का उन्मूलन कर विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। उसके द्वारा किये गये शकोन्मूलन में उसके साधिविग्रहिक वीरसेन का भी मुख्य योगदान था। यह पाटलिपुत्र का निवासी था एवं शकों के उन्मूलन तथा पृथ्वी विजय में अपने स्वामी का साथ देने मालवा भी गया था। इस प्रकार शकों को पराजित कर पाटलिपुत्र अधीश्वर उज्जयिनी पुरवर अधीश्वर भी बन गये। उन्होंने अपनी मुख्य राजधानी उज्जयिनी में स्थानान्तरित कर ली। उत्तरकारलीन गुप्तों ने भी उज्जयिनी एवं पाटलिपुत्र के मध्य सम्पर्क बनाये रखा। सातवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हर्ष का भी नियंत्रण मालवा एवं मगध पर था फलतः इन नगरों में सम्पर्क बने रहे। धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में भी दोनों नगरों का घनिष्ठ सम्पर्क था एवं यहाँ के आचार्यों एवं चिंतकों का पारस्परिक परिचय था। अशोक के कारण पाटलिपुत्र नगर बौद्ध धर्म का केन्द्र बन चुका था एवं उज्जयिनी तो बुद्ध के जीवनकाल में ही उनके चिंतन का प्रचार केन्द्र हो चुकी थी। बुद्ध के निर्वाण के 100 वर्ष पश्चात् संघ में भेद उत्पन्न हो गया, क्योंकि वैशाली के भिक्षुओं ने विनय के नियमों के पालन में शिथिलता का पक्ष लिया एवं सूत्रों की यथेष्ट व्याख्या करना आरम्भ कर दिया। उन मतभेदों को दूर करने के लिये पूरब एवं पश्चिम भारत के भिक्षुओं की सभा हुई, जिसमें अवन्ति के भी 88 भिक्षुओं ने भाग लिया था। उनमें से कुछ भिक्षु उज्जयिनी के अवश्य रहे होंगे। ज्ञातव्य है कि उक्त बौद्ध संगीति उस समय हुई थी। जिस समय वैशाली मगध का अंग थी एवं पाटलिपुत्र के राजा काकवर्णी ने उसे सख्क्षण प्रदान किया था। यह भी दृष्टव्य है कि उन दोनों पाटलिपुत्र की अपेक्षा वैशाली का राजनीतिक एवं धार्मिक महत्व अधिक था। कौशाम्बी, विदिशा एवं काम्पिल्य के समान ही उज्जयिनी भेथरवाद का केन्द्र थी एवं वहीं से दक्षिणापथ एवं पश्चिम भारत तथा मध्य—एशिया एवं चीन में भी उसका प्रचार हुआ।

भारत को आत्मसात करने वाले विदेशी शासक

रविंद्र कुमार चतुर्वेदी

भारत में आकर बसने वाले जिन अभारतीय शासकों ने स्वयं को भारतीय संस्कृति में समग्र रूप से विलयित कर दिया था, उनमें शकों के क्षत्रप वंश का नाम उल्लेखनीय है। यूनानियों के बाद और कुषाणों से पूर्व भारत के अनेक अंचलों में कई नये राजवंशों का उदय हुआ। उनमें दक्षिण के पार्थव (पहलव), पश्चिमोत्तर के क्षत्रप, मथुरा के क्षत्रप, महाराष्ट्र के क्षहरात और उज्जैन के क्षत्रपों का नाम उल्लेखनीय है। इन नवोदित राजवंशों में उज्जैन के क्षत्रपवंश का ऐतिहासिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्व है। विदेश से आये शकों के इस यशस्वी राजकुल ने मध्य पश्चिम भारत पर लगभग दो-ढाई सौ वर्षों तक शासन किया। उज्जैन के क्षत्रपवंश का प्रथम शासक होने का श्रेय यस्सामौतिक के पुत्र चष्टन को है, जो कि 130 ई. में सिंहासन पर बैठा। उसी ने उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया था। चष्टन बड़ा शक्तिशाली शासक था। निरन्तर विपदाओं और चिन्ताओं से घिरे रहने पर भी वह उज्जैन पर अपना अस्तित्व बनाये रहा। जयदामन् उसका उत्तराधिकारी था। अपने पिता की भाँति वह भी युद्धों से घिरा रहा और किसी भी मौलिक तथा रचनात्मक कार्यों के निर्माण में सफल नहीं हो सका। जयदामन् के बाद उसका पुत्र रुद्रदामन गद्दी पर बैठा। भारत के इतिहास में रुद्रदामन का कई दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। उसके यशस्वी व्यक्तित्व और बल-विक्रम का वर्णन जूनागढ़ के गिरनार पर्वत पर उत्कीर्ण अभिलेख में सुरक्षित है (एपि. इडि., 8. पृ. 36-46)। समस्त भारतीय अभिलेख-साहित्य में संस्कृत की यह प्रथम गद्यमयी प्रशस्ति है, जिसको शक सम्वत् 72 (150 ई.) में अंकित किया गया है। यह प्रशस्ति ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है।

इस अभिलेख से ज्ञात होता है कि जनता ने अपनी रक्षा के लिए सर्वथा सुयोग्य शासक के रूप में रुद्रदामन् को अपना महाक्षत्रप नियुक्त किया था। रुद्रदामन् ने भी जनता के विश्वासों के अनुरूप अपनी योग्यता और शक्ति का परिचय दिया। उसके पितामह चष्टन के समय सातवाहन शासक गौतमीपुत्र सातकर्ण ने क्षत्रपों के राज्य के जिन भागों को स्वायत्त किया था, रुद्रदामन् ने उन पर पुनः अपना अधिकार किया। उक्त अभिलेख से ज्ञात होता है कि रुद्रदामन् ने दक्षिणाधिपति सातवाहन सातकर्ण को युद्ध में पराजित किया

था। बाद में सातवाहन पुलोमावि से अपनी पुत्री का पाणिग्रहण कर उसने तत्कालीन भारत में सर्वाधिक शक्तिशाली साम्राज्य से अपने मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लिया था। रुद्रदामन् एक धार्मिक और प्रजावत्सल शासक था। प्रजा की सुख-शान्ति का उसे सदा ध्यान रहता था। उसने भारत के महान् सम्राटों की शासन प्रणाली को वरण किया था। उक्तके सुशासन में बेगारी (विष्टिः) पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, ताकि प्रजा का अनावश्यक शोषण समाप्त हो। उसने सुदर्शन झील के बाँध का पुनर्निर्माण कराया था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने काठियावाड़ में निरनार पर्वत के नीचे एक विशाल झील का निर्माण तथा उस पर एक बाँध बनवाया था। रुद्रदामन् ने गिरनार अभिलेख में इस झील का, जिसका नाम सुदर्शन सेतुबन्ध रखा गया

था, उल्लेख है। रुद्रदामन् ने उसको चिरस्थायी बनाने हेतु उस पर तीन हिस्सों का बाँध बनाया था। एक शक्तिशाली सुशासक के अतिरिक्त महाक्षत्रप रुद्रदामन विद्वान और होने वाले विद्यानुरागी भी थे। ज्योतिष, व्याकरण शास्त्र, न्याय-दर्शन तथा संगीत का ज्ञान ज्ञात था। रुद्रदामन् के बाद भी उज्जैन के क्षत्रपों का राजवंश लगभग दो सौ वर्षों तक शासनारूढ़ रहा, किन्तु इन वर्षों का इतिहास अन्धकारमय है। ऐसा प्रतीत होता है कि शकों का यह वंश किसी-न-किसी रूप में गुप्तकाल के आस-पास तक चलता रहा। बाण के हर्षचरित और विशाखदत्त के देवीचन्द्रगुप्त का शकराज, जिसे कुमारावस्था में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (375-414 ई.) ने मार डाला था, सम्भवतः इस कुल का रुद्रसिंह तृतीय था, जिसके अनेक सिक्के भी उपलब्ध हैं। उज्जैन, महाराष्ट्र और मथुरा के शकों का सर्वथा उन्मूलन करके चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकारि का वीरुध धारण किया था। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में शक क्षत्रपों का इस दृष्टि से उल्लेखनीय स्थान है कि विदेशी होते हुए भी उन्होंने स्वयं को भारतीय संस्कृति में सर्वथा विलयित कर दिया था। अपने विवाह सम्बन्धों को क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों से स्थापित कर उन्होंने अपनी समन्वयवादी, सहिष्णु एवं उदार नीति का परिचय दिया। उन्होंने अपने नामों का भारतीयकरण किया और ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध धर्मों के आदर्शों को ग्रहणकर उनके देवी-देवताओं को स्वीकार कर अपनाया। भारतीय शासकों की ही भाँति उन्होंने अनेक चौत्यों, गुफाओं तथा मन्दिरों का निर्माणकर धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की।

उदार और सहिष्णु होने के साथ-साथ वे दानी भी थे। ब्राह्मणों को प्रचुर दान देकर वे भारतीय इतिहास के अभिन्न अंग बन गये। इस दृष्टि से शक शासक उषवदास और ऋभषदत्त का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नासिक से प्राप्त एक गुफालेख (19-125 ई.) से ज्ञात होता है कि उन्होंने ब्राह्मण धर्म को वरण कर लिया था और वे हिन्दू देवताओं की पूजा-प्रतिष्ठा करने लग गये थे। ऋभषदत्त ने बौद्ध संघ को एक गुफा का दान किया। अभिलेख में उसे तीन लाख गायों के दानदाता (त्रि गोहदा की उपाधि से विभूषित किया गया है।

विदेशियों के भारतीयता वरण करने की यह परम्परा वैदिक युग से ही चली आ रही थी। समय-समय पर प्रशासनिक, राजनीतिक तथा धार्मिक प्रयोजनों से भारत आये विदेशियों ने भारतीय धर्म को वरण करने में गौरव का अनुभव किया। बेसनगर के गरुड़-स्तम्भ पर उत्कीर्णित अभिलेख से ज्ञात होता है कि अन्तिकिलित के राजदूत हेलियोदोरस ने परम भागवत की उपाधि धारण की थी। महाराज मेनांडर तो बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया था। कुषाणराज बीम कदफिसस माहेश्वर उपाधि से युक्त शैवमत का अनुयायी हो गया था। कनिष्क भी भारतीयता का अभिन्न अंग बन चुका था। विदेशियों के आर्गीकरण या भारतीयकरण का यह अभियान वस्तुतः वैदिक युग से ही प्रचलित हो गया था। स्मृतिकारों ने भी उसे धर्मसम्मत मान लिया था और उसके लिए नियम बना दिया था। मनुस्मृति (10.67) में मिश्रित या संकर जातियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे अपने गुण, कर्म के अनुसार आर्य बन सकते हैं। यह नियम वस्तुतः बाहरी जातियों के आर्य महासंघ में सम्मिलित होने के उद्देश्य से बनाया गया था। इससे पूर्व महाभारतकार (65.5.13) ने यवनों, किरातों, गन्धारों, तुषारों और पहलवों को वैदिक संस्कारों का वरण करने तथा वैदिकों की पूजा-विधियों में सम्मिलित होने का विधान कर दिया था। इसी आधार पर मनुस्मृतिकार ने आपद्धर्म के अन्तर्गत आर्गीकरण के लिए उक्त अधिनियम की स्वतन्त्र व्यवस्था कर दी थी। आर्गीकरण या भारतीयकरण के इस अभियान के फलस्वरूप जिन शक शासकों ने अपने नामों में परिवर्तनकर भारतीयता को वरण किया, उनमें घटक, रुद्रदामन, राजुल, शोडास, शिवघोष, शिवदत्त, रुद्रसेन और विजयसेन का नाम उल्लेखनीय है। उनकी इस उदारता एवं उनके भारतीय अनुराग के कारण भारत के ब्राह्मण, बौद्ध और जैन-सभी वर्गों, सम्प्रदायों के समाज ने उनको ससम्मान ग्रहण किया। शकों की आचार-पद्धति, रहन-सहन और शासन व्यवस्था सभी में भारत की परम्पराएँ निहित थीं। उनका संस्कृतानुराग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रुद्रदामन की प्रशस्ति संस्कृत गद्य की एक अनुपम कृति है। अपने समसामयिक एवं पड़ोसी सातवाहनों के प्राकृतानुराग के विपरीत शकों ने संस्कृत को अपने शासनकाल में सम्मानित स्थान दिया। भारत ने शक सम्वत् को अपना राष्ट्रीय सम्वत् घोषित कर तानाशाह शासकों का सर्वधर्म-समन्वय तथा सहनशीलता को पुनःजीवितकर अपनी उदार राष्ट्रनीति का परिचय दिया है।

इतिहास के सन्दर्भों से विदित होता है कि भारत पर ग्रीक सामरिकों के निरन्तर कई आक्रमण हुए। सबसे पहला आक्रमण मकदूनिया के महान् विजेता सिकन्दर ने 326 ई.पू. के लगभग किया था। दूसरा ग्रीक आक्रमण सेल्यूकस द्वारा 306 ई.पू. में हुआ। इसी प्रकार तीसरा आक्रमण अन्तियोकस तृतीय ने 306 ई.पू. में किया। बाद के शक्तिशाली आक्रान्ताओं में बाख्त्री के दिमित (डेमिट्रियस), युक्रैतिद और मेनांडर नामक तीन विजेताओं के नाम उल्लेखनीय हैं। ये तीनों आक्रमण लगभग 206-175 ई. पू. के बीच हुए। इन तीनों यवन शासकों तथा उनके उत्तराधिकारियों ने लगभग 160 वर्षों तक तत्कालीन सीमाप्रान्त, सिन्ध और पंजाब पर शासन किया। भारत में अपने शासन और प्रभाव की जड़ें जमाने वाले यवन शासकों में मेनांडर (180-145 ई.पू.) का नाम उल्लेखनीय है। वह एक शक्तिशाली, न्यायपरायण, उदार और सहिष्णु शासक था। उसके साम्राज्य की सीमाएँ उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त, पंजाब, सौराष्ट्र और सुदूर पश्चिम तक विस्तृत थीं। तत्कालीन राजधानी पाटलिपुत्र पर अधिकार करने के उद्देश्य से उसने पहले राजपूताना और उसके बाद मथुरा पर तीव्र आक्रमण किये। इन आक्रमणों में उसने व्यापक पैमाने पर भारतीय सैनिकों को हत किया। बाद में बौद्ध भिक्षु नागसेन के प्रभाव में आकर उसने बौद्धधर्म वरण कर लिया था। तत्पश्चात् उसकी आक्रमण प्रवृत्ति मन्द पड़ गयी। भारत में यवन संस्कृति का प्रभाव अनेक रूपों में प्रसारित हुआ। उसका सर्वप्रथम प्रभाव भारतीय सिक्कों पर परिलक्षित हुआ। जवानों की सुरुचि के परिणामस्वरूप उत्तर-पश्चिम भारत में अपूर्व कलात्मक सिक्कों का प्रचलन हुआ।

भारत-यवन सांस्कृतिक समन्वय से अनेक क्षेत्रों में सर्वथा नये रखना-प्रकार प्रकाश में आये, जिन्होंने आगे की अनेक पीढ़ियों पर अपने प्रभाव की गहरी छाप अंकित की। भारत में ग्रीक कला के अनुकरण पर वास्तुकला और तक्षणकला के क्षेत्र में जो नमूने प्राप्त हुए हैं, उनमें ई.पू. प्रथम शती के प्रसिद्ध ज्ञान-कला-केन्द्र तक्षशिला में निर्मित एक देवमन्दिर के ऊँचे यवन स्तम्भ और कुछ भवन उल्लेखनीय हैं। ई.पू. प्रथम शती में उदित गान्धार शैली भारतीय-यवन कला-समन्वय की ज्वलन्त प्रकाश-किरण है। जिसके कारण भारतीय कला के इतिहास को नया आलोक मिला। भारतीय कलाकारों ने गांधार शैली के नये-नये प्रयोग करके ऐसी अमर कला-कृतियों का निर्माण किया, जिनका महत्व सदियों बाद आज भी बना हुआ है। इस प्रकार के विभिन्न कला केन्द्रों में सुरक्षित तथागत बुद्ध की भव्य विशाल प्रतिमाओं में लाहौर, पेशावर और शिमला संग्रहालयों की प्रतिमाओं का नाम उल्लेख्य है। इस प्रकार भारत में यूनानियों और ईरानियों के प्रवेश से कला और संस्कृति के क्षेत्र में निश्चित ही नये मान-मूल्यों की स्थापना हुई और नयी प्रेरणाप्रद एवं उन्नत, परिष्कृत शिल्प-विधियों का विकास हुआ। किन्तु जहाँ तक धर्म, दर्शन और साहित्य का सम्बन्ध है, भारत में उनकी परम्परा इतनी उन्नत, सम्पन्न और स्थायी थी कि यवन संस्कृति उससे प्रभावित हुए बिना न रही।

संस्कृतियों के समन्वय का प्रतीक : शिव

चंद्रशेखर शर्मा

यद्यपि वैदिकों और सिन्धुवासियों में लम्बे समय तक घोर संघर्ष होते रहे। किन्तु दूसरी और उनकी परम्पराओं तथा मान्यताओं को एक-दूसरे ने पर्याप्त रूप में अपनाया। पशुपति शिव या रुद्र की आराधना इसका उदाहरण है। पशुपति शिव सिन्धुवासियों के आराध्य देव थे। इसीलिए ब्राह्मण-ग्रन्थों में यह निर्देश किया गया कि वैदिक यज्ञकर्ता उसकी पूजा-प्रतिष्ठा न करें। किन्तु उपासना और कला के क्षेत्र में शिव के व्यापक प्रभाव ने आर्य और आर्यभिन्य परम्पराओं में समन्वय स्थापित कर समस्त भारतीय जन-मानस में अविच्छिन्न राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया। आर्यों और आर्यतर जातियों के सांस्कृतिक समन्वय में वैदिक रुद्र और पौराणिक शिव का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस समन्वय की परिचायक एवं वाहक शिव-संस्कृति है, जिसका व्यापक प्रचार-प्रसार उत्तर से दक्षिण भारत तक रहा है। इस रूप में भारतीय संस्कृति के निर्माण तथा उत्तरोत्तर विकास में सुर-असुर, आर्य-आर्यतर, दोनों की प्रतिद्वन्द्वी विचारधाराओं ने एकसमान योगदान किया। सुरों, देवताओं, असुरों, दानवों और दैत्यों ने शिव से ज्ञान प्राप्त किया। वेदों तथा वैदिक साहित्य में रुद्र को प्रमुख देवता के रूप में माना गया है। एक ओर तो उसको उग्र, भीम और क्रोधी स्वभाव का प्रतिनिधि कहा गया है। दूसरी ओर उसकी दयालु, कल्याणकारी, सुखदाता और व्याधियों के विनाशक के रूप में स्तुति की गयी है। आर्यतर अवैदिकों में रुद्र की पूजा का व्यापक प्रचलन था। सिन्धु-सभ्यता के खण्डहरों से अनेक लिंग भी प्राप्त हुए हैं। यहाँ शिव शक्तियों तक एकमुख, त्रिमुख तथा चतुर्मुख शिव के रूप में अंकित किये गये। ऋग्वैदिक रुद्र ही पुराणकालीन शिव हैं। पुराणों के अनुसार प्रजापति कश्यप से जिन एकादश रुद्रों की उत्पत्ति हुई थी, उन्हीं रुद्र-रूपों में से एक रूप शिव का भी था। रुद्र की शिव-रूप में प्रतिष्ठा-आराधना आज तक चली आ रही है।

उत्तराखण्ड में केदारनाथ, तुगनाथ, रुद्रनाथ, महामहेश्वर और कल्केश्वर नाम से पंच केदार शिव के वैदिक रुद्र के प्रतीक आज भी विद्यमान हैं। वेदों में आर्यों की जिस असुरोपासक शाखा को अहिं कहा गया है वह नग (पर्वत) की निवासी होने के कारण पुराणों में नाग नाम से सम्बोधित की गयी है। वृत्रासुर और शम्बर जैसे विकट प्रभावशाली एवं बलवान राजा नागवंश के ही थे। ऋग्वेद (10.189) के सर्पयाज्ञी ऋषि भी नागवंशीय थे। महाराज ययाति के पिता और राजा पुरुरवा के पौत्र राजा नहुष को पराजित करने वाले नागराज नागेन्द्र इसी वंश के थे। वे पृथा (कुन्ती) के पिता सूरसेन के नाना थे। उलूपी, जिसके साथ अर्जुन ने विवाह किया था, नागराज कौरव्य की पुत्री थी। इस प्रकार उत्तरोत्तर विरोधों अर्जुन संघर्षों के बावजूद आर्य तथा आर्यतर जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध

बने रहे। इन सम्बन्धों को सुरक्षित रखने में नाग जाति का विशेष योगदान रहा है। वेदयुगीन यह नाग जाति शिव-संस्कृति की अनन्योपासिका थी। वैदिक भारतीय संस्कृति में शिव का इस दृष्टि से विशेष महत्व है कि उसी के माध्यम से एशिया के अनेक देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार हुआ। भारतीय संस्कृति की गौरवाभिवृद्धि में रुद्र या शिव का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। आर्यों तथा आर्यतर जातियों के सांस्कृतिक समन्वय का प्रतीक शिव भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य तथा कला का आधार बना और अतीत के सहस्रों वर्षों पूर्व से लेकर आज तक भारतीय जन-मानस पर प्रतिष्ठित है। सभी परम्परा से भारतीय कलाकारों ने अपनी कृतियों में शिव के विराट् स्वरूप की कल्पना कर भारतीय कला के महान आदर्श और भारतीय संस्कृति की उदात्तता को मूर्तित एवं चित्रित किया है। मानवता की मंगलमयी भावना ही शिवाकृति है।

दार्शनिक दृष्टि से शिव ही विश्व की प्रगति के प्रवाह हैं। उनमें सत्-असत् देवत्व-मानवत्व और रौद्रता-सुन्दरता दोनों परस्पर विरोधी तत्वों का एक साथ समन्वय हुआ है। उनका ताण्डव सृष्टि-लीला का प्रतीक है, जिनका पाद-चालन जय-पराजय तथा उद्भव-प्रलय के आरोह-अवरोह हैं। वे नटराज हैं। उनका ताण्डव भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य और कला का सनातन आधार रहा है। वे जितने रौद्र हैं, उतने ही सुन्दर भी हैं। किन्तु स्वयं में वे निर्लिप्त, निर्विकार, निरपेक्ष, अपार ज्योति से ज्योतित, सच्चिदानन्द, अखण्ड और दिव्य विभूतियों से परिमण्डित हैं। उनके त्रिमूर्ति रूप में भूत, वर्तमान, भविष्य, सत्व, रज, तम, सृष्टि, स्थिति, लय, आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक त्रित्व समन्वित हैं। भारतीय संस्कृति में शिव, भोले भंडारी और दानवीर माने गये हैं। वर माँगने पर वे किसी को मना नहीं करते थे। उन्होंने रावण की भक्ति स्वीकार की, लेकिन राम द्वारा पूजित होने पर उन्हें भी विजय का वरदान दिया था। देवताओं की उन्होंने अनेक बार सहायता की, उनके शत्रुओं का संहार किया, यहाँ तक कि देवताओं के शत्रु तारकासुर का वध करने हेतु पुत्र प्राप्त करने के लिए ही उन्होंने पार्वती से विवाह भी किया। हमारे आदि ग्रंथ ऋग्वेद और यजुर्वेद में रुद्र और शिव की वन्दना है। शिव पुराण में उनकी वंदना करते हुए कहा गया, सृष्टि के आरंभ में एक ही रुद्रदेव विद्यमान रहते हैं, दूसरा कोई नहीं होता। वे ही इस जगत की सृष्टि करते हैं। इसकी रक्षा करते हैं और अंत में सबका संहार कर डालते हैं।

शिव पुराण सभी पुराणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व सबसे ज्यादा पढ़ी जाने वाली पुराणों में से एक है। भगवान शिव के विविध रूपों, अवतारों, ज्योतिर्लिंगों, भक्तों और भक्ति का विशद वर्णन किया गया है।

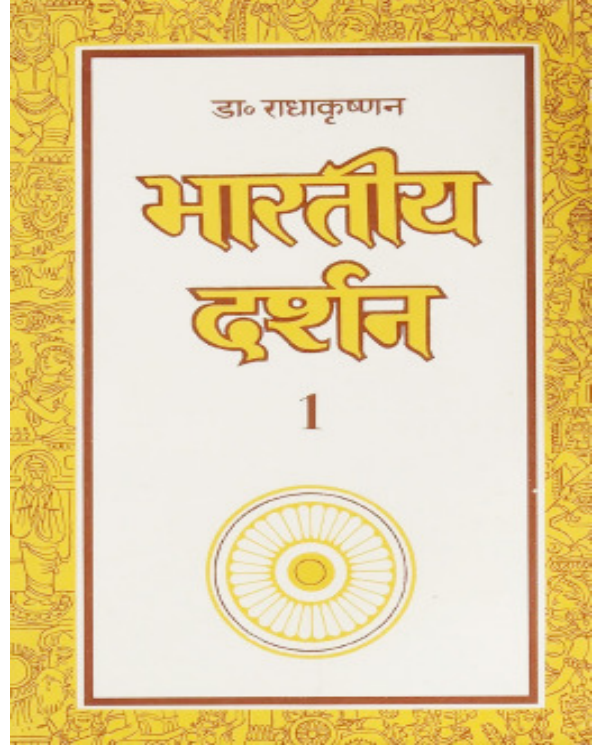
पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

भारतीय दर्शन का व्यापक एवं गहन अध्ययन

डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन की पुस्तक 'भारतीय दर्शन' भारतीय दर्शनशास्त्र पर एक व्यापक और गहन अध्ययन प्रस्तुत करती है। यह दो खंडों में विभाजित है और इसमें भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं का विशद वर्णन किया गया है। पुस्तक का प्रमुख उद्देश्य भारतीय दर्शन के गहरे और जटिल पहलुओं को पश्चिमी विचारकों के समक्ष स्पष्ट रूप से रखना और भारतीय सांस्कृतिक और धार्मिक परंपराओं की विशेषताओं का विश्लेषण करना है। डॉ. राधाकृष्णन ने भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक विकास का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने वेदों से लेकर आधुनिक काल तक की प्रमुख दार्शनिक धाराओं का विश्लेषण किया है। इस पुस्तक में वेदांत, बौद्ध, जैन, सांख्य, योग, मीमांसा और न्याय आदि प्रमुख दर्शनशास्त्रों का गहन विवेचन है। डॉ. राधाकृष्णन ने पारंपरिक भारतीय विचारों को आधुनिक दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत किया है। उन्होंने भारतीय दर्शन को न केवल भारतीय परिप्रेक्ष्य से देखा, बल्कि उसे वैश्विक स्तर पर भी प्रासंगिक बनाने की कोशिश की है। उनका उद्देश्य भारतीय दर्शन को पश्चिमी दर्शन के समकक्ष लाना था और उन्होंने पश्चिमी और भारतीय विचारधाराओं के बीच संवाद स्थापित किया है।

डॉ. राधाकृष्णन ने दार्शनिक सिद्धांतों का सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है, विशेषकर अद्वैत वेदांत का। उन्होंने शंकराचार्य, गौतम बुद्ध, महावीर, पतंजलि और अन्य प्रमुख विचारकों के सिद्धांतों को गहराई से समझाया है। उनके विश्लेषण में तर्क की स्पष्टता और विषय की गहराई का समन्वय है। हालांकि पुस्तक दार्शनिक रूप से अत्यधिक गहरी है, फिर भी डॉ. राधाकृष्णन की लेखन शैली इसे पढ़ने में सरल और बोधगम्य बनाती है। पाठक दर्शनशास्त्र की जटिलताओं को आसानी से समझ सकते हैं, क्योंकि लेखक ने विषय को स्पष्ट और संक्षिप्त तरीके से प्रस्तुत किया है। डॉ. राधाकृष्णन ने भारतीय दर्शन के प्रत्येक सिद्धांत की आलोचनात्मक समीक्षा की है। उन्होंने न केवल उसके सकारात्मक पक्षों को उजागर किया है, बल्कि उसके कमजोरियों और सीमाओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है।

यह पुस्तक भारतीय संस्कृति, धर्म और दर्शन के प्रति गहरे सम्मान और समझ को व्यक्त करती है। डॉ. राधाकृष्णन का विश्लेषण न केवल भारतीय दर्शन को समझने में सहायक है, बल्कि इसे एक वैश्विक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास भी करता है। भारतीय दर्शन भारत की समृद्ध और प्राचीन दार्शनिक परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है। यह केवल धार्मिक या आध्यात्मिक चिंतन तक सीमित नहीं है, बल्कि इसमें जीवन,



अस्तित्व, ज्ञान, नैतिकता, और ब्रह्मांड के मूलभूत प्रश्नों पर गहन विचार-विमर्श शामिल है।

डॉ. राधाकृष्णन वेदान्त से प्रभावित होने पर भी उसके अंध समर्थक नहीं हैं। उनका दावा है कि उन्होंने उसे वैज्ञानिक मानस के लिए सुगम और ग्राह्य बनाने का प्रयास किया है। वे विश्व प्रक्रिया को विकासशील मानते हैं। उनके अनुसार हम जीवन का आदि और अंत नहीं जानते, केवल उसका मध्य जानते हैं, जो कि निरन्तर परिवर्तनशील है। असीम ईश्वर के साथ सम्पर्क प्राप्त करने की असीम में विद्यमान भावना को डॉ. राधाकृष्णन अविद्या और अज्ञान से उत्पन्न नहीं मानते हैं। वास्तव में ऐसी भावना असीम की सत्यता और परिपूर्णता को प्रदर्शित करती है। विकास और परिवर्तन भी अविद्याजन्य अभाव मात्र न होकर सत्य हैं। जगत परम सत की अनन्त संभावनाओं की क्रमिक अभिव्यक्ति है, ब्रह्म का विवर्तमात्र नहीं है। जगत परम सत पर आधारित होने के कारण सत्य है। आत्मा या ब्रह्म को सत्य मानना समस्त जगत की सत्यता की प्रकारान्तर से स्वीकृति है, क्योंकि जगत उसी पर आश्रित है। आत्मा ही सबका विज्ञाता है। यह उपनिषद उक्ति जगत के प्रपंच या विविधता को भ्रम नहीं बताती।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए बिड़ला भवन, देवास रोड, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा नि:शुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujain@gmail.com, vikramadityashodhpeth@gmail.com